वेद में जितना मिलता है वो और कहीं नहीं मिलता। लेकिन इसमें भी ध्यान रखने की बात यह है कि 'वेद' के नाम से जाने जाने वाला ग्रंथ कोई एक ही समय में बनाया नहीं गया था। जो लोग इस बारे में जानते हैं, वे कहते हैं कि कम से कम 1 हजार साल तो इसमें लगा ही होगा और इसको ईसा से 2500 वर्ष पूर्व और 1500 वर्ष के बीच में रखते हैं। 1000 साल बहुत होते हैं और इसमें किसी चीज़ का 'रख पाना', बगैर उसमें कुछ 'जोड़े', 'खोए' नामुमकिन ही लगता है। यदि नहीं, अगर इसको मान भी लें तो इससे यह 'सीधी-साधी' समस्या उठती है कि पहली चर्चा जो हमें मिलती है वो मुश्किल से ईसा के 600/700 साल पहले की है। इसको निघण्टु और निरुक्त के नाम से सब लोग जानते हैं। पर अगर कोई यह पूछे कि ईसा के 1500 सदी पूर्व और इस 600/700 सदी पूर्व के बीच में क्या हुआ, तो जहाँ तक मैं जानता हूँ, न किसी ने यह सवाल उठाया है न किसी ने इसका जवाब दिया है।

इतने बड़े विद्वानों की 'बुद्धि' पर आश्चर्य हुए बिना रहा नहीं जाता। इस करीब-करीब हज़ार साल में हम जिसे 'वेद' कहते हैं उसका क्या हुआ और वेद के बारे में जो चर्चा है वो प्रधानत: किस वेद के बारे में है। चर्चा तो ऋग्वेद की ही मालूम होती है और उसमें भी देवताओं की। यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद की चर्चा तो उसमें मिलती ही नहीं। इससे यह माना जा सकता है कि ये वेद बाद में रचे गए, क्योंकि इनकी चर्चा न तो यास्क में है, न निघण्टु में ही, परंपरा में यह ज़रूर है।

❑

भारतीय दर्शन में 'दार्शनिक चर्चा' का स्वरूप: बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य का जनक के यज्ञ में आये ऋषियों से संवाद

बृहदारण्यक की कथा, सबको पता है। जनक की सभा में जो हुआ उसकी बात वेदान्ती बार-बार कहते नहीं अंघाते, परन्तु वास्तव में हुआ क्या था इस पर विचार शायद ही गहराई से किसी ने किया है। बात साधारण है, पर हम यदि थोड़ी देर के लिए ये भूल जायें कि ये ग्रन्थ 'उपनिषद्' कहलाता है और इसका हीरो याज्ञवल्क्य है तो शायद हमारे आश्चर्य का ठिकाना न रहेगा कि उस समय में दार्शनिक सम्वाद, सम्वाद न होकर, प्रतिस्पर्धा का रूप लेते थे जो आज के युग में साधारण से साधारण लोगों को भी शायद ही उचित लगेगा। आइये, जनक की सभा में चलें और देखें कि वहाँ क्या हो रहा है–

यज्ञ पूरा हो चुका है। दूर-दूर से याज्ञिक, विद्वान, ऋषि और ज्ञानी पहले ही एकत्रित हो चुके हैं, जो कुछ होना है, यज्ञ से सम्बन्धित उत्सव समाप्त प्राय: ही था उसी समय जनक एक नई घोषणा करते हैं; वे कहते हैं, सहस्त्र गौएँ दान में दी जायेंगी (620)। इन गायों के दस-दस पाद सुवर्ण सींगों से बँधे थे।

ग्रन्थ में ऐसा स्पष्ट लिखा हुआ है कि जो ब्राह्मण वहाँ एकत्रित हुए थे, कुछ पाँचाल के थे। यदि ऐसा था तो ये भी कुछ हद तक तो मानना पड़ेगा कि जनक की राजधानी कहीं इसी प्रदेश में होगी और यदि ऐसा था तो यह जनक शायद उन जनक से भिन्न हैं जो मिथिला में राज्य करते थे और जिनकी प्रसिद्धि रामायण की कथा के सन्दर्भ में है। वैसे तो जनका को 'विदेह' देश का राजा बताया गया है परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह 'विदेह' कहाँ था। अगर इसको मिथिला में मान भी लें तो फिर ये समस्या उठेगी कि आखिर क्या वहाँ ब्राह्मण नहीं थे।

जो भी हो दार्शनिक दृष्टि से दार्शनिक सन्दर्भ में यह बात अवान्तर है। असली बात तो यह है कि जनक की जिज्ञासा क्या थी और वे किस प्रश्न का उत्तर जानना चाहते थे और यह भी उस उत्तर को जानने के लिए उन्हें इतनी सारी गायें और सुवर्ण देने की जरूरत क्यों हुई। क्या ज्ञानी लोग इतने लोभी होते हैं कि प्रश्न

का उत्तर देने के लिए उन्हें पैसा लेने की आवश्यकता होती है, और 'ब्रह्मज्ञान' या जो चरम सत् है उसके ज्ञान का कोई मूल्य हो सकता है? क्या जनक की जिज्ञासा में ही कोई दोष नहीं था। यदि वे वास्तव में ही जानना चाहते तो उन्हें किसी ब्रह्मविद् के पास शिष्य रूप में जाना चाहिये था। क्या यह राजा का दम्भ था कि वह ज्ञान को खरीद सकता है। शायद राजा की जिज्ञासा ब्रह्म को जानने की नहीं थी, केवल यह जानने की थी कि वहाँ उपस्थित ब्राह्मणों में ब्रह्मिष्ठ कौन है। इस सन्दर्भ में उपनिषद् में 'ब्रहिम्ष्ठ' शब्द का प्रयोग हुआ है इसका एक अर्थ यह भी हो सकता है कि वह केवल ब्रह्म को जानता ही नहीं है बल्कि उसकी चेतना ब्रह्म में अवष्ठित है।

इस सन्दर्भ में 'ब्रह्म-वेत्ता' और 'ब्रह्मिष्ठ' में भेद करने की कोशिश दिखाई पड़ती है; यही नहीं, इस प्रसंग के प्रारंभ में उपस्थित ब्राह्मणों से भी कहा गया है कि वैसे तो आप सब लोग ब्रह्म को जानने वाले हैं ही, पर आप में से जो अतिशय रूप में ब्रह्मिष्ठ हो वह इन गायों को ले जाये।

ऐसा कहने पर जब कोई भी ब्राह्मण गायों को ले जाने के लिए तैयार न हुआ तब याज्ञवल्क्य ने अपने शिष्यों से कहा कि तुम इन गायों को ले जाओ, ऐसा सुनकर सब उपस्थित ब्राह्मण ये विश्वास न कर सके कि आखिर याज्ञवल्क्य अपने को ब्रह्मिष्ठ कैसे मान सकते है। इस पर उन्हें क्रोध भी आया और उन्होंने याज्ञवल्क्य से पूछा कि आप अपने को ब्रह्मिष्ठ कैसे मान सकते हैं। याज्ञवल्क्य बोले कि ब्रह्मिष्ठ को तो मैं प्रणाम करता हूँ मैं तो केवल गायों को चाहने वाला हूँ। इस पर उपस्थित ब्राह्मण और क्रोधित हुए और ऐसा लगता है कि बात को बिगड़ते देख, परिस्थिति को बचाने के लिए राजा जनक के पुरोहित (अश्वल) ने स्वयं ही प्रश्न करने का फैसला किया और याज्ञवल्क्य से पूछा कि जब जो कुछ भी है वह 'मृत्यु' से व्याप्त है, तो फिर यजमान मृत्यु से मुक्ति कैसे पा सकता है (पाता हैं)।

याज्ञवल्क्य ने इसको जो उत्तर दिया उस पर अधिक ध्यान देने की ज़रूरत नहीं है क्योंकि इसमें कोई विशेष बात प्रतीत नहीं होती। हाँ, दो बातें साफ़ दिखाई पड़ती हैं; यज्ञ का सम्बन्ध मृत्यु से था और मृत्यु को जीतने से। एक तरह से अमरत्व की बात की गई है, पर 'स्वर्ग कामो यजेत्' में 'स्वर्ग' के प्रयोग से केवल अमरत्व की 'ध्वनि' हो ऐसा प्रतीत नहीं होता।

याज्ञवल्क्य का उत्तर अग्नि को 'ऋत्विक' के रूप में देखता है और वाक् के द्वारा मुक्ति और अतिमुक्ति की बात करता है। इसका अर्थ न स्वयं स्पष्ट है, न शंकर ही इसके विषय में कोई खास बात कह पाते हैं। हाँ, एक बात इस सन्दर्भ में शायद ज़रूरी कही जा सकती है और वह यह है कि 'वाक्' एक तरह से मृत्यु को हराने की कोशिश ज़रूर है। आदमी लिखता है, कुछ कहता है और इसी को दूसरे सुनकर याद करके उस आदमी के चले जाने के बाद भी अपने पास रखते हैं और यह परम्परा यदि टूटे नहीं तो उसे एक प्रकार अमरत्व ज़रूर प्रदान करती दिखाई देती है जो स्वयं में मरणशील है, इसी को शायद 'श्रुति-स्मृति' कहा गया है; जो

सुना जाता है उसे दोहराना, याद करना और फिर दूसरे को बताना और इस अनवरत प्रक्रिया से हम उसे स्थायित्व प्रदान करते हैं जो अपने आप में क्षणिक है, अस्थायी है। परन्तु याज्ञवल्क्य के उत्तर में कोई ऐसी प्रतिध्वनि नहीं मिलती, यह तो हमारा उस पर 'आरोपित' अर्थ लगता है।

आश्चर्य की बात तो यह है कि जनक के प्रधान पुरोहित होते हुए भी अश्वल ने इस प्रश्न के बाद जो प्रश्न किया वह इससे घटिया ही लगता है। अमरत्व की बात करने के बाद ये पूछना कि जब सब कुछ दिन और रात्रि के अधीन है तब यजमान इसके पार कैसे जा सकता है। इसका एक अर्थ ये करने की चेष्टा की गई है कि यहाँ दिन और रात का मतलब काल से है लेकिन यदि ऐसा है तो यह सवाल कुछ पहले जैसा ही है क्योंकि काल और मृत्यु का संबंध एक दूसरे से ऐसे जुड़ा है कि एक के बिना दूसरे की कल्पना नहीं की जा सकती। यहाँ याज्ञवल्क्य का उत्तर प्रथम सन्दर्भ जैसा ही दृष्टिगोचर होता है।

इसी तरह अश्वल के और प्रश्न जो हैं वैसे भी उसी बात को घुमा-फिरा कर कहते प्रतीत होते हैं। याज्ञवल्क्य के उत्तर बार-बार उसका ध्यान यज्ञ की ओर मोड़ते प्रतीत होते हैं जहाँ वे यज्ञ के विभिन्न पक्षों और 'ऋत्विकों' के कार्यों को प्रतीक के रूप में दिखाने की चेष्टा करते हैं जैसे वहाँ 'अग्नि' भी है, 'वायु' भी है, 'वाक्' भी है।

यही बात हवन की अग्नि के बारे में भी पूछी जाती है और ब्रह्म के बारे में भी कि वह यज्ञ की रक्षा किससे और कैसे करता है। यह अश्वल का अन्तिम प्रश्न है और आश्चर्य की बात है कि इसमें मन की चर्चा की गई है। इससे पहले देवलोक, पितृलोक और मनुष्य लोक की चर्चा हो चुकी है, परन्तु इस सब में ब्रह्म के ज्ञान की चर्चा कहीं नहीं है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि अश्वल केवल बात को प्रारंभ करने के लिए अपने प्रश्न पूछ रहे हैं और उपस्थित ब्राह्मणों को यह बतलाने के लिए कि याज्ञवल्क्य यज्ञ के बारे में जो जानना चाहिये, जानते हैं पर उनके उत्तर में कोई गहरी अध्यात्म की बात नहीं झलकती।

इसके बाद दूसरा प्रश्न आर्तभाग का है और इसका नाम याज्ञवल्क्य-आर्तभाग सम्वाद दिया गया है। शंकर अपने भाष्य में पिछली आख्यायिका की बात कहते हैं और इस बात पर बल देते हैं कि वहाँ मृत्यु और काल की चर्चा की गई है; अब प्रश्न ये है कि मृत्यु क्या है और काल क्या है जब तक यह नहीं पता चलता तब तक मृत्यु और काल को जीतने की बात समझी ही नहीं जा सकती।

आर्तभाग का प्रश्न और भी अजीब है, वह पूछता है कि गृह कितने हैं और 'अति-ग्रह' कितने हैं इन प्रश्नों का सम्बन्ध न मृत्यु से है, न काल से, न ब्रह्म से। ये तो ऐसे ही प्रश्न लगते हैं जैसे किसी का इम्तिहान लिया जा रहा हो। याज्ञवलक्य का उत्तर भी सीधा-सादा है ग्रह आठ हैं और अति-ग्रह भी आठ ही हैं।

यह पूछने पर कि ये आठ ग्रह, अति-ग्रह कौनसे हैं याज्ञवल्क्य का उत्तर अजीब है और वे शायद इस ओर ध्यान दिलाने की कोशिश करता है कि कोई आकाश में स्थित ग्रह और अति ग्रहों की बात नहीं हो रही है बल्कि मनुष्य के बारे में चिन्तन किया जा रहा है या किया जाना चाहिये। वह कहते हैं कि प्राण ही ग्रह है और वह अपान के अतिग्रह को गृहीत होता है।

याज्ञवल्क्य प्राण की बात कहकर फिर आर्तभाग का ध्यान मनुष्य की ओर केन्द्रित करने की चेष्टा करते हैं और बताते हैं कि चिन्तन का विषय मनुष्य ही होना चाहिये, मनुष्य पर चिन्तन की प्रक्रिया की शुरुआत 'प्राण' से ही हो सकती है क्योंकि यदि प्राण नहीं है तो कुछ भी नहीं है। प्राण के बाद वह इन्द्रियों की बात करता है लेकिन इनमें वह वाणी को प्रधानता देते हैं क्योंकि मनुष्य वाणी के द्वारा ही अपने चिन्तन को मूर्त रूप देता है और दूसरों से सम्बन्ध स्थापित करता है। अन्य इन्द्रियों की बात तो सबको पता है लेकिन याज्ञवल्क्य इसमें मन की भी शक्ति शामिल करते हैं और मन को 'कामरूप' कहते हैं। क्योंकि प्राणी मन से ही कामना करता है और शायद इसीलिए 'काम' को 'मनसिज' कहा गया है। अतिग्रह का मतलब यहाँ इस सन्दर्भ में केवल उसी से है जो प्राण से, इन्द्रियों से, वाक् से, मन से रहित होता है।

शंकर ने जो इस पर अपने भाष्य में कहा है वह भी ध्यान देने योग्य है। वह हमारा ध्यान इस ओर खींचते हैं कि वाक् से ही सब कुछ 'नामरूप' लेता है और मन से ही व्यक्ति इच्छाओं के बन्धन में बँधता है और वह भी इन्द्रियों के द्वारा। इन्द्रियों के विषय हैं, उनके जाल में फँसता है।

आर्तभाग इसके बाद जो प्रश्न करते हैं वह और भी गहरा है। ऐसा लगता है कि उसका पहला प्रश्न याज्ञवल्क्य को परखने के लिए किया गया है। याज्ञवल्क्य के उत्तर से उन्हें यह महसूस हुआ कि ये आदमी जानकार तो है इसलिए इससे कुछ और गहरी बात पूछनी चाहिए। ग्रह और अतिग्रह का जो उत्तर याज्ञवलक्य ने दिया, उस पर पूछते हैं कि फिर मृत्यु क्या है? प्राण हो, वाक् हो, मन हो, इन्द्रियाँ हों, ये सब एक दिन नाश को प्राप्त होंगे। इनमें से कोई नहीं बच सकेगा। लेकिन आर्तभाग केवल यही प्रश्न नहीं करते बल्कि एक और प्रश्न जोड़ते हैं कि अगर ये सब मृत्यु का भोजन है, अन्न है, तो मृत्यु किसका अन्न है।

यहाँ एक तरह से सब की बात की गई है, दूसरी ओर केवल मनुष्य की। जो कुछ भी उत्पन्न होता है, उसका नाश अवश्यम्भावी है। लेकिन मृत्यु की बात हम केवल जिसमें प्राण है उसके सन्दर्भ में करते हैं। परन्तु मनुष्य में केवल प्राण ही नहीं, वाक् और मन भी है इसलिए मनुष्य की मृत्यु की बात करना प्राणि-मात्र की मृत्यु की बात से अलग है और इसी तरह से प्राणियों की मृत्यु की बात करना जो कुछ भी उत्पन्न होता है उसके विनाश की बात से भिन्न है।

लेकिन ऐसा लगता है कि यह भेद न आर्तभाग करते हैं न आचार्य शंकर, क्योंकि ऐसा भेद करने पर कुछ नई समस्याएँ उत्पन्न होंगी। मनुष्य मृत्यु की चिन्ता से क्यों ग्रसित है जब एक तरह से सारा संसार जन्म और मृत्यु 'होने' और 'न होने' के बीच में ही अवस्थित है। क्या मृत्यु की बात में कुछ ऐसा 'अहम्' तो नहीं छिपा है जो मनुष्य को मृत्यु को स्वीकार करने से रोकता है; आखिर 'वही' केवल मृत्यु को प्राप्त क्यों नहीं हो जब सारा जगत् मृत्यु से ग्रसित है, और अगर वह मृत्यु से ग्रसित नहीं हो तो वह कैसा जगत् होगा। 'जन्म' का चाहना और मृत्यु को स्वीकार न करना इससे बड़ी बेवकूफी क्या होगी। अगर हम यह कहें कि जन्म हुआ ही नहीं है तो मृत्यु की बात भी बेमानी है।

आर्तभाग के मृत्यु सम्बन्धी प्रश्न का उत्तर याज्ञवल्क्य एक दूसरे प्रकार से देने की चेष्टा करते हैं और कहते हैं कि आखिर मृत्यु है क्या? मृत्यु का प्राण से सम्बन्ध है और प्राण कहाँ से आता है, बाहर से। साँस लेना और छोड़ना यही आधारभूत प्राण की प्रक्रिया है और ये सब समाप्त हो जाती है तब उसे मृत्यु कहा जाता है। यह बात कुछ-कुछ इस प्रकार की लगती है कि जो बाहर से आता है जिस पर सब आधारित है वह जब आना बन्द हो जाता है तो मृत्यु होती है लेकिन इस मृत्यु के होने से वाक्, मन और इन्द्रियों का क्या होता है, क्या उनकी मृत्यु भी हो जाती है। याज्ञवल्क्य का उत्तर ऐसा प्रतीत होता है कि 'नाम' नष्ट कैसे हो सकता है क्योंकि 'नाम' तो अनन्त है और 'नाम' से ही विश्व या जगत् स्थित है। इस विश्व को उन्होंने 'विश्वदेवा' भी कहा है। इसे ऐसे भी समझा जा सकता है कि आदमी ने जो कुछ कहा है, बोला है जाना है, वह तो रहता है ही, भले ही आदमी मर जाये। तो पहला उत्तर तो यह है कि मरने के बाद जो वाक् है, वाणी है, वह नहीं मरती।

इसके बाद आर्तभाग ने जो प्रश्न किया, उसका अर्थ कुछ ऐसा लगता है कि आखिर मनुष्य एक संघात रूप है जिस संघात का नाम पहले उसने ग्रह और अतिग्रह के नाम से दिया था। इसमें प्राण है, इन्द्रियाँ हैं, मन है, वाक् है और बहुत कुछ है, परन्तु थोड़ी देर के लिए यह मान भी लिया जाये कि प्राण के समाप्त होने के बाद वाक् बचा रहता है फिर भी सवाल उठता है, बाकी सबका क्या होता है और इसका उत्तर एक ही है बाकी सब भी प्राण की तरह जहाँ से आये हैं उसी में लौट जाते हैं और यह संघात रूप मनुष्य मृत्यु को प्राप्त होता है, आर्तभाग का प्रश्न इसी पर है कि अगर ये सब संघात है और मृत्यु इन सबका अलग-अलग होना और अपने अलग-अलग तत्त्वों में विलीन होना है तो क्या कुछ बाकी रहता है?

याज्ञवल्क्य ने इस पर कहा कि इसका उत्तर सबके सामने नहीं दिया जा सकता, तुम मेरे साथ आओ मैं तुम्हें इसका उत्तर बताऊँगा। याज्ञवल्क्य ने क्या कहा इसके बारे में उपनिषद् में जो कहा गया है वो अजीब है क्योंकि उपनिषद् ये

कहता है कि याज्ञवल्क्य का उत्तर 'कर्म' है। मृत्यु के बाद जो बचता है वह कर्म है अच्छा, बुरा, पाप-पुण्य यही बचता है बाकी कुछ नहीं। न ज्ञान बचता है, न भाव, बचता है केवल कर्म, कर्म भी नहीं केवल उसका फल या और गहराई से कहें तो संस्कार, वृत्ति जो मिलकर संसार की पुन: रचना कर सकते हैं। आर्तभाग की चर्चा यहीं समाप्त होती है, इसके बाद तीसरे अध्याय में भुज्यु से चर्चा होती है।

आर्तभाग के प्रश्नों के बाद याज्ञवल्क्य से जो नये प्रश्न पूछे जाते हैं वे इतने अजीब हैं कि ऐसा लगता है कि या तो विभिन्न प्रश्नों के बीच कोई सम्बन्ध ही नहीं है या पूछने वाला जो चाहे पूछ सकता था, चाहे वह ब्रह्मिष्ठ हो या न हो। एक जो प्रश्न याज्ञवल्क्य से पूछते हैं वो इसी प्रकार का है। वह कहते हैं कि वे अपने भ्रमण में कहीं गये थे, किसी के यहाँ ठहरे, उनकी पुत्री पर कोई गन्धर्व आया हुआ था उससे उन्होंने पूछा कि परीक्षित कहाँ रहे थे।

अब ब्रह्म की चर्चा में गन्धर्व की बात करना और परीक्षित कहाँ रहे यह पूछना बहुत ही अजीब सा लगता है। भुज्यु के प्रश्न का उत्तर याज्ञवलक्य इस प्रकार देते हैं कि उस गन्धर्व ने उसके प्रश्न का यही उत्तर दिया होगा कि जहाँ अश्वमेघ यज्ञ करने वाले जाते हैं। इस पर भुज्यु ने पूछा कि अश्वमेघ यज्ञ करने वाले कहाँ जाते हैं। याज्ञवल्क्य के उत्तर में न कोई गहरी आध्यात्मिक बात है न दृष्टि, वे सिर्फ उस समय की मान्यताओं का वर्णन करते हैं जिसमें उस समय के लोग संसार के बारे में व संसार से परे जो है उसके बारे में कैसे सोचते थे। उत्तर सुनकर भुज्यु चुप हो जाता है। ऐसा लगता है कि भुज्यु के प्रश्न का कोई महत्त्व नहीं है और न याज्ञवल्क्य के उत्तर का।

हाँ, यदि ये परीक्षित वही हैं जो महाभारत में वर्णित हैं और उन्होंने अश्वमेघ किया था तो इस उपनिषद् की कथा से कम से कम इतना स्पष्ट होता है कि यह महाभारत के बाद का है।

भुज्यु के बाद उपष्ट नाम के कोई महर्षि प्रश्न करते हैं उनका प्रश्न सीधा ब्रह्म और आत्मा के बारे में है। परन्तु ब्रह्म को वे 'साक्षात् अपरोक्ष' कहते हैं और आत्मा को 'सर्वान्तर'। ये अपने आप में बड़ी अजीब बात है। ब्रह्म को 'अपरोक्ष' मानना और वह भी 'साक्षात् अपरोक्ष' अजीब लगता है। जबकि अद्वैत परम्परा में यह आत्मा के बारे में कहा गया है क्योंकि साक्षात् अनुभव (अनुभूति) अहम् प्रत्यय से इंगित या दर्शित आत्मा की ही होती है, ब्रह्म की नहीं, इसके विपरीत उपष्ट आत्मा को सर्वान्तर कहते हैं। इसका साधारण अर्थ यही है कि वह सबमें व्याप्त है, यह और भी अजीब है क्योंकि आत्मा को आमतौर पर इस प्रकार से नहीं देखा जाता क्योंकि उसके सम्बन्ध में 'सर्व' की बात उठती ही नहीं है। उसके इस प्रश्न से ऐसा मालूम होता है कि या तो कोई इस प्रकार का सम्प्रदाय था जो ऐसा मानता था या वह याज्ञवल्क्य की परीक्षा लेने के लिए किया गया है कि वे ब्रह्म व आत्मा को ठीक प्रकार से समझते हैं कि नहीं।

याज्ञवल्क्य का उत्तर अजीब है, वे उपष्ट की बाद को दोहरा कर ही कहते हैं कि ये तेरा आत्मा सर्वान्तर है। उपष्ट इस पर पूछते हैं कि वह सर्वान्तर कौन सा है। याज्ञवल्क्य का उत्तर एक प्रकार से बेकार सा है क्योंकि वे फिर प्राण की चर्चा करते हैं और शरीर में जो अनेक प्रकार की वायु है वही आत्मा है।

इससे ऐसा लगता है कि याज्ञवल्क्य ये बताना चाहते हैं कि आत्मा एक संघात के रूप में है और उसी रूप में वह सर्वान्तर है जिस प्रकार प्राण या प्राण से सम्बन्धित वायु बाहर-भीतर आता-जाता रहता है उसी प्रकार मनुष्य की इन्द्रियाँ, मन और प्रज्ञा भी ऐसा ही करती है। यदि है तो मनुष्य संसार से विछिन्न नहीं है, बल्कि जो उसमें है वही बाहर है और जो बाहर है वही उसमें है।

उपष्ट इस उत्तर से संतुष्ट नहीं हुए और उन्होंने कहा कि याज्ञवल्क्य तुम्हारा उत्तर कुछ ऐसा ही है जैसे कोई ये पूछने पर कि बैल क्या है या घोड़ा क्या है तो यह कहे कि ये जो चलता हुआ दौड़ता हुआ प्राणी है वही बैल है या घोड़ा है। याज्ञवल्क्य ने इसके उत्तर में यही कहा कि तुम्हारा आत्मा ही सर्वान्तर है। जब इस पर भी उपष्ट सन्तुष्ट नहीं हुआ तो उसने कहा कि देखो जो देखता है, जो सुनता है, जो जानता है, जो सोचता है, उसे तुम कैसे देख सकते हो, सुन सकते हो, जान सकते हो वह तो कभी विषय रूप में उपस्थित हो ही नहीं सकता परन्तु जो कुछ भी होता है उसे माने बगैर समझा नहीं जा सकता। इस पर उपष्ट चुप हो गया।

उपष्ट के चुप हो जाने के बाद कहोल ने प्रश्न पूछा। आश्चर्य की बात है कि कहोल ने फिर वही प्रश्न किया जो उपष्ट ने किया। प्रश्न फिर अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा के बारे में! ऐसा लगता है कि वहाँ उपस्थित ब्राह्मण और ऋषि सन्तुष्ट नहीं हुए थे। याज्ञवल्क्य ने अपने उत्तर में एक दिशा बनाने की चेष्टा की थी जिसको शायद लोग समझ नहीं पाये। इसलिए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आत्मा वह है जो भूख, प्यास, शोक, मोह, जरा और मृत्यु से परे है और इसका ज्ञान सांसारिक इच्छाओं को छोड़कर ही हो सकता है। जब तक धन की इच्छा है और पुत्र की इच्छा है, लोक या प्रसिद्धि की इच्छा है तब तक आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता, कहने का अर्थ यह है कि जब तक चेतना अन्य-केन्द्रित होती है, चाहे वह कर्म, ज्ञान या भाव में केन्द्रित हो तब तक वह अपने को जान ही नहीं सकती। अपने को जानने के लिए उसे इन सबसे अलग होना पड़ता है। लेकिन प्रश्न तो अपरोक्ष ब्रह्म और सर्वान्तर आत्मा के बारे में है जिसका उत्तर याज्ञवल्क्य के उत्तर में नहीं मिलता।

इसके बाद याज्ञवल्क्य से गार्गी ने पूछा। गार्गी के प्रश्न का न तो आत्मा से सम्बन्ध है न ब्रह्म से। घुमा-फिराकर उसका ब्रह्म से सम्बन्ध सोचा जा सकता है क्योंकि वह पूछती है कि ये जो सब कुछ है वह किसमें ओतप्रोत है। इस सबसे पहले उसने जल के बारे में पूछा। याज्ञवल्क्य ने इसका उत्तर यह कहकर दिया कि वह वायु में ओतप्रोत है। इसके बाद गार्गी एक के बाद एक इसी प्रकार का प्रश्न

पूछती रही। याज्ञवल्क्य भी उत्तर देते रहे अन्त में उसने यह पूछा कि ब्रह्मलोक किसमें ओतप्रोत है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि यह 'अति-प्रश्न' है। अगर तू ऐसा पूछेगी तो तेरा सिर गिर जायेगा। इसका मतलब शायद यह है कि प्रश्न का कोई अन्त होना चाहिए। जब हम किसी ऐसी चीज की बात करते हैं, जो सब कुछ है देश, काल से परे है सब जगह जो मिलता है उसके बारे में यह प्रश्न पूछना गलत है। याज्ञवल्क्य के कहने का यही अर्थ है; उनकी बात को सुनकर गार्गी चुप हो गई।

इसके बाद आरुणि याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछते हैं। आरुणि उद्दालक ने याज्ञवल्क्य से कहा कि बहुत दिन पहले जब वो मद्रदेवा में यज्ञ शास्त्र का अध्ययन कर रहे थे तब उन्होंने किसी कपि गोत्रोत्पन्न पातंजल के यहाँ निवास किया था और उसकी स्त्री किसी गन्धर्व से ग्रसित थी। उसने उस गन्धर्व से पूछा कि तुम कौन हो और उसने कहा मैं आथर्वण कबन्ध हूँ। इसके बाद उस गन्धर्वी ने वहाँ उपस्थित याज्ञिकों आदि से पूछा कि क्या तुममें से कोई उस सूत्र को जानते हो जिसके द्वारा ये लोक, परलोक और सब भूतादि एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं। तब उस काव्य पातंजल ने कहा मैं उसे नहीं जानता। उसके बाद उस गन्धर्व ने फिर पूछा कि क्या तुम उस अन्तर्यामी को जानते हो जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतों को अन्दर से नियमित करता है। इसका भी उत्तर उन्होंने यह कहकर दिया कि वे उसे नहीं जानते। इस पर गन्धर्व ने कहा कि जो उस सूत्र और उस अन्तर्यामी को जानता है वही ब्रह्मवेत्ता है और सर्ववेत्ता है। इसके बाद गन्धर्व ने उनको उस सबको बताया और उस सब का ज्ञान दिया।

उद्दालक आरुणि ने कहा मैं उस को जानता हूँ, अगर तुम कहते हो कि तुम ब्रह्म को जानते हो तो तुम्हें गन्धर्व के प्रश्न का उत्तर मालूम होना चाहिए। इस पर याज्ञवल्क्य ने कहा कि मैं जानता हूँ। उद्दालक ने कहा ऐसा सभी कहते हैं। तुमने अगर गलत कहा है तो तुम्हारा सिर गिर जायेगा।

याज्ञवल्क्य ने आरुणि उद्दालक से कहा कि गन्धर्व ने तुम्हें किस सूत्र और अन्तर्यामी का ज्ञान दिया था उसे मैं जानता हूँ। जो सूत्र सबको एक में बाँधता है वह वायु है और अन्तर्यामी वह है जो सबके अन्दर व्याप्त है जो सब चीज़ों का अन्दर से नियमन करता है। जो कुछ भी हो रहा है चाहे वह बाहर हो या अन्दर वह नियम से परिचालित होता है और उस समय को सतत् और सदैव कार्यान्वित करने वाला ही अन्तर्यामी है। इसी बात को यावल्क्य ने तीन भागों में बाँटकर कहा और इस प्रकार सारी सृष्टि को तीन भागों में बँटा हुआ बताया। पहला वो है जो स्थूल रूप से दृष्टिगोचर होता है और जिसे पंचमहाभूत का नाम दिया जाता है। सूर्य हो, चन्द्रमा हो, अग्नि हो, वायु हो, जल हो, पृथ्वी हो कुछ भी हो जो आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों से ग्रहण होता है सुना जाता है, सूँघा जाता है, वह स्थूल

है, बाहर है, उसमें जो अन्तर्यामी है वही उनका नियमन करता है। इसमें अधिभूत आत्मा की बात की गई है।

इसके बाद दूसरा स्तर प्राण का है जीवन्त प्राणियों का है जो चराचर में व्याप्त हैं उनका स्थूल शरीर ज़रूर है पर स्थूल से भिन्न है, उनका जो नियमन करता है वह अन्तर्यामी सूक्ष्म बाहर से नहीं दिखता है अन्दर से जाना जाता है।

तीसरा स्तर अंतर चेतना का है जो मनुष्य को अपने अन्दर सदैव महसूस होती है वह भी अन्तर्यामी है और वास्तव में वही अन्तर्यामी है। जो सूक्ष्म रूप से सारे जगत् को परिचालित करता है वही मनुष्य को परिचालित करता है वही अन्तर्यामी है।

याज्ञवल्क्य का यह उत्तर सुनकर आरुणि उद्दालक बैठ गया और ऐसा महसूस हुआ कि वह याज्ञवल्क्य के उत्तर से सन्तुष्ट था। याज्ञवल्क्य को गन्धर्व और शूद्र की बात पता थी।

इसके बाद गार्गी जो पहले ही प्रश्न पूछ चुकी थी जिसके अतिप्रश्न से नाराज़ होकर याज्ञवल्क्य ने कहा था कि तेरा मस्तक गिर जायेगा। गार्गी ने ब्राह्मणों से दो प्रश्न पूछने की अनुमति माँगी। ब्राह्मणों के अनुमति देने पर उसने पहला प्रश्न पूछा कि यह जो सारा संसार है जिसमें अनेक लोग हैं ऊपर, नीचे, बीच में ये सब किससे ओतप्रोत हैं? प्रश्न कुछ-कुछ पहले जैसा ही है और ऐसा लगता है कि घुमा-फिराकर एक ही बात पूछी जा रही है। केवल इस प्रश्न में अन्तर यह है कि इसमें काल की चर्चा भी की गई है और यह भी कहा गया है कि जो भूत में था और वर्तमान में है और भविष्य में होगा किससे ओतप्रोत है।

याज्ञवल्क्य का उत्तर बड़ा अजीब है क्योंकि अभी वह अन्तर्यामी की बात कर चुका है, उस सबकी बात कर चुका है जो उसके द्वारा एक सूत्र में बँधे हैं। लेकिन अब उसकी बात न करके वह कहता है कि आकाश है, जिसमें सब ओतप्रोत हैं।

गार्गी के प्रश्न में अनेक लोकों की चर्चा तो है पर स्थूल-सूक्ष्म का भेद है, न प्राणवान सत्ता का। ऐसा लगता है कि उस समय के चिन्तन में दो भिन्न दिशाएँ थीं। एक वो जो संसार को बाहर से देखते हैं एक वे जो अन्दर से देखने की कोशिश करते हैं। वे जड़ जगत् के अलावा प्राणी जगत् को भी देखते थे जिनमें आत्मचेतना थी। ये दोनों दिशाएँ एक दूसरे से भिन्न थीं, लेकिन ऐसा लगता है कि उपनिषदों का चिन्तन दोनों में एकत्व स्थापित करने की कोशिश करता है। यही बात बाद में ब्रह्म और आत्मा की अभिन्नता को बताकर अद्वैत वेदान्त में कही गई प्रतीत होती है।

इस पर गार्गी ने पूछा कि हे याज्ञवल्क्य! ये आकाश किसमें ओतप्रोत है। याज्ञवल्क्य का उत्तर था कि ये जिसमें ओतप्रोत है उसके बारे में कुछ भी नहीं कहा

जा सकता हालांकि वही सब कुछ है; इसे उसने 'अक्षर' का नाम दिया जो कभी नाशवान नहीं होता, जो सदैव है। याज्ञवल्क्य 'अक्षर' का विस्तार से वर्णन करते हैं लेकिन यह वर्णन यही कहकर है कि उसके बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता। यहाँ ब्रह्म की चर्चा नेति-नेति के रूप में हुई है। जो सदैव है, सब में है, देश-काल से परे है पर फिर भी देश-काल में है उसकी बात कैसे की जाये लेकिन याज्ञवल्क्य एक बात और कहते हैं कि जो कोई इसको बगैर जाने कुछ भी करता है, कुछ भी जानता है, वह चाहे यज्ञ हो चाहे कुछ और, वह बेकार है। उस यज्ञ का फल मरणशील होता है व उस विद्या का ज्ञान अज्ञान से घिरा रहता है। कहने का आशय यह है कि चाहे कर्म हो या ज्ञान जो चरम सत् को ध्यान में रखे बगैर किया जाता है वह सीमित ही होगा क्योंकि उसकी सीमाएँ देश और काल दोनों से बँधी होंगी। यह सुनने पर गार्गी ने कहा हे ब्राह्मणो! आप में से कोई भी याज्ञवल्क्य को ब्रह्मज्ञान के बारे में कोई प्रश्न पूछकर हरा नहीं पायेंगे। लेकिन गार्गी के ऐसा कहने के बाद भी शाकल्य ने याज्ञवल्क्य से प्रश्न पूछना जारी रखा, परन्तु ये प्रश्न अजीब हैं इसका उस सबसे कोई सम्बन्ध दिखाई नहीं देता जो आरुणि उद्दालक और गार्गी ने पूछे। उसका पहला सवाल है कि याज्ञवल्क्य देवता कितने हैं।

शाकल्य प्रश्न ही नहीं पूछते, बल्कि स्वयं ही अपने प्रश्नों का उत्तर देते हैं और ऐसा कहते प्रतीत होते हैं कि याज्ञवल्क्य को उनके बारे में कुछ भी पता नहीं है। यही नहीं, हृदय और शरीर के संबंध की भी बात करते हैं और इसी प्रकार आत्मा के स्वरूप का भी वर्णन करते हैं।

इसी तरह वो अनेक प्रश्न पूछता जाता है। कहता है कि याज्ञवल्क्य तुम किसमें प्रतिष्ठित हो शरीर में या हृदय में। याज्ञवल्क्य का उत्तर होता है प्राण में। प्राण किसमें प्रतिष्ठित है। याज्ञवल्क्य का उत्तर होता है अपान में और इसी तरह शाकल्य प्रश्न पूछता रहता है। अंत में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आठ आयतन हैं, आठ लोक हैं, आठ देव हैं, आठ पुरुष हैं। ये कहकर वो यह पूछते हैं कि जो उन पुरुषों को निश्चयपूर्वक जानकर उनका अपने हृदय में उपसंहार करके औपाधिक कर्मों का नाश करता है। उस औपनिषद् पुरुष के बारें में मैं तुमसे पूछता हूँ और यदि तुम मुझे उसके बारे में न बता सकोगे तो तुम्हारा मस्तक गिर जायेगा।

शाकल्य इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाता और बृहदारण्यक के अनुसार उसका मस्तक गिर जाता है। शाकल्य की इस प्रकार मृत्यु न वहाँ उपस्थित ब्राह्मणों के लिए, और न याज्ञवल्क्य के लिए और न उपनिषद् के लिए न 'श्रुति' होने का प्रमाण हो सकती है न शब्द प्रमाण का। अगर किसी संवाद का अंत ऐसा हो तो फिर उसे संवाद कैसे कह सकते हैं। इस प्रश्न का उत्तर इस उपनिषद् के किसी भाष्यकार ने संतोषपूर्ण नहीं दिया है। यही नहीं, क्या याज्ञवल्क्य को आत्मवेत्ता कहा जा सकता है, अगर उन्होंने वास्तव में ऐसा वहाँ किया था।

आश्चर्य की बात तो यह है कि उपनिषद् को इसमें कोई दुविधा दिखाई नहीं देती। वो तो इसके बाद याज्ञवल्क्य के द्वारा वहाँ उपस्थित ब्राह्मणों के प्रति प्रश्न करवाता है जिनका उत्तर याज्ञवल्क्य स्वयं देते हैं। याज्ञवल्क्य उस 'पुरुष' का वर्णन करते हैं जिसके बारे में उन्होंने शाकल्य से पूछा था।

ऐसा लगता है कि यह पुरुष ऋग्वेद के पुरुष सूक्त का ही पुरुष है जिसके बारे में ऋग्वेद में यह कहा गया था 'एवेदं सर्वं पुरुषम् यद्भूतम् यच्चभव्यम्'। पर याज्ञवल्क्य तो आठ पुरुषों की बात करते हैं जबकि पुरुष सूक्त में तो एक ही पुरुष की बात की गई थी।

याज्ञवल्क्य उपस्थित ब्राह्मणों से ये पूछते हैं कि हमारे सामने मनुष्य जीता है और मरता है, कुछ-कुछ उसी प्रकार जैसे सब प्राणी उत्पन्न होते हैं और मृत्यु को प्राप्त होते हैं परन्तु यदि हम वनस्पति जगत् की ओर देखें तो एक अजीब आश्चर्यजनक दृश्य दिखाई देता है पेड़ कटता है पर मृत्यु को प्राप्त नहीं होता, पत्ते गिरते हैं पर फिर-फिर पत्ते आते हैं, डाल हरी होती है और उसमें नये जीवन का संचार होता है ये आश्चर्यजनक बात कैसे होती है यदि वृक्ष को काट भी दें तो भी वह जड़ से उत्पन्न होता है लेकिन जड़ को काट दें तो पैदा नहीं होता लेकिन उसके हजारों बीज पहले ही संसार में फैल चुके हैं जिनके द्वारा वह फिर-फिर पैदा होता रहता है, क्या मनुष्य के जीने-मरने का रहस्य प्रकृति के इस रहस्य में छिपा नहीं है। क्या मनुष्य की मृत्यु के बाद सब समाप्त हो जाता है और क्या जीवन के पहले वो कुछ नहीं था। जो लोग ये कहते हैं कि मनुष्य का जन्म वीर्य से होता है वे ये भूल जाते हैं कि वीर्य तो जीवित पुरुष का होता है मरे हुए का नहीं इसलिए ये कहना मृत्यु के बाद क्या होता है और कैसे होता है। इसके लिए हमें बाहर प्रकृति की ओर देखना होगा जहाँ मृत्यु और जन्म का चिरन्तन चक्र सदैव चलता रहता है। इस रहस्य को समझने के लिए उस मूल की ओर ध्यान देना होगा जिससे सब कुछ बार-बार उत्पन्न होता है और दूसरी ओर बीज के उस सत्व की ओर ध्यान देना होगा जिसमें प्राण और अन्न दोनों का असर एक साथ दिया हुआ रहता है।

वो इस सन्दर्भ में अपना कथन श्रुति की बात करके समाप्त करते हैं, जो अधिक स्पष्ट नहीं है। एक ओर वो विज्ञान और आनन्द की बात करते हैं और दूसरी ओर शायद कर्म की। लेकिन इतना स्पष्ट है कि वे ब्रह्म को सृष्टि के मूल में मानते हैं और उसी से बार-बार सृष्टि और कर्म की बात करते हैं, जिससे मनुष्य मृत्यु के बाद भी पुनः जन्म लेता है।

पुनर्जन्म का बीज क्या है? इसको बौद्धों ने अनादि वासना या तृष्णा का नाम दिया है, अन्य भारतीय दर्शनों में इस इच्छा या वासना कहा है। दूसरी ओर जगत् के मूल में कोई शक्ति अवश्य है जो बार-बार हरेक चीज़ को उत्पन्न करती है उसके बारे में यहाँ शायद सिर्फ इतना कहने की कोशिश की गई है कि इसमें सहज रूप में ज्ञान और आनन्द या आत्मस्थ तृप्ति दोनों हैं।

फिर सवाल ये होता है कि आखिर दु:ख का कारण क्या है, जो इससे भी कठिन प्रश्न है वह यह है कि जो अशिव है, बुरा है, असत् है, असुन्दर है, वो कहाँ से आता है। परम्परा में इस प्रश्न का उत्तर यह कह कर देने की कोशिश की थी कि संसार अपने आप में ठीक है पर मनुष्य का कर्म ही उसके लिए उत्तरदायी है जिसे वह स्वयं अशिव, असत्, असुन्दर कहता है। लेकिन फिर भी एक प्रश्न बाकी रह जाता है वह यह है कि दु:ख तो प्राणी मात्र के साथ बँधा है और दु:ख कहाँ से आता है और क्यों आता है। जड़ प्रकृति के मूल में चेतना हो सकती है लेकिन उसमें दु:ख तो नहीं होता, अच्छे-बुरे को भेद एक बात है, दु:ख-सुख का भेद दूसरी बात है। कर्म के सिद्धान्त ने दोनों को मिलाने की कोशिश की थी लेकिन उसके मूल में जो गलती थी वह ये थी कि कर्म मनुष्य ही कर सकता है और उसके लिए वही उत्तरदायी हो सकता है जबकि सुख-दु:ख प्राणी मात्र का धर्म ही नहीं, लक्षण भी है और इसलिए उसे कर्म से जोड़ना बेमानी है। हाँ, यह सवाल ज़रूर पूछा जा सकता है कि क्या वनस्पति, वृक्ष आदि भी सुख-दु:ख अनुभव करते हैं। इसका उत्तर देना कठिन है, लेकिन याज्ञवल्क्य ने जनक की सभा में जिस बात से अपनी बात की समाप्ति की उसमें एक गहरी दृष्टि अवश्य है। बाद में छान्दोग्य में उद्दालक श्वेतकेतु को फिर बीज की बात बतायेंगे, लेकिन उसको और तरह से देखेंगे।

याज्ञवल्क्य की कहानी इसके बाद चौथे अध्याय में फिर जनक से संवाद के रूप में कही गई है। उसकी ओर ध्यान दिये बिना शायद हम याज्ञवल्क्य की बात को पूरी तरह नहीं समझ पायेंगे।

जनक के साथ उनका वार्तालाप यहीं से शुरू नहीं होता कि मृत्यु को कैसे समझा जाये, क्या जन्म के बगैर मृत्यु को समझा जा सकता है। जब जन्म होता है तो सब खुशी मनाते हैं और जब मृत्यु होती है तो सब बरबस आँसू बहाते हैं। इसमें क्या कोई राज़ छिपा है, इसकी बात शायद आगे चलकर कुछ खुलेगी। अभी तो इसका इन्तज़ार करना ही पड़ेगा।

❑

वेद और वर्ण-व्यवस्था

वर्ण की बात करते ही पुरुष सूक्त की बात होती है जिसके आधार पर ये कहा जाता है कि समाज में चार वर्ण की बात श्रुति सम्मत ही नहीं है, श्रुति निर्धारित भी है और इसलिये जो वेद के मानने वाले हैं उन्हें इस वर्ण-व्यवस्था को उसी रूप में स्वीकार करना पड़ेगा जिस रूप में वो मानते हैं। पर, पुरुष-सूक्त क्या है और उसमें क्या लिखा है, इस पर शायद ही कभी किसी ने ध्यान दिया हो।

पुरुष सूक्त ऋग्वेद (10.90) में मिलता है और वो किन्हीं ऐसे ऋषि का कहा जाता है जिनका नाम नारायण था। नारायण के नाम से जुड़ा हुआ ये सूक्त आज जो ऋग्वेद संहिता उपलब्ध है उसमें तो मिलता है लेकिन अगर हम निघण्टु और यास्क के निरुक्त को देखें तो उनमें ऋग्वेद के जिन देवताओं के नाम दिये हुये हैं, उनमें 'पुरुष' का नाम नहीं है। ये ध्यान देने की बात है कि पुरुष सूक्त का देवता 'पुरुष' है, जबकि नारायण उसके ऋषि हैं। 'पुरुष' रूप में देवता का नाम निघण्टु और निरुक्त में न होने से ऐसा लगता है कि ये सूक्त बाद का लिखा हुआ है और इसलिये कम से कम इसके पहले की जो ऋग्वेद की संहिता थी उसमें शायद ये सूक्त था ही नहीं।

ध्यान देने की बात ये है कि ऋग्वेद की संहिता केवल एक ही नहीं थी, बल्कि वो कई अनेक भिन्न-भिन्न रूपों में मिलती थी जिन्हें शाखा का नाम दिया जाता था। ऋग्वेद की इस प्रकार एक ही संहिता नहीं थी, बल्कि अगर पंतजलि के महाभाष्य की बात को स्वीकार करें तो उसके समय में इसकी इक्कीस भिन्न-भिन्न संहिताएँ थीं, जिन्हें शाखा का नाम दिया जाता था। यही नहीं, इसके बाद के लिखे गये चरणव्यूह सूत्र में ऋग्वेद की भिन्न-भिन्न पाँच संहिताओं का उल्लेख है, जिन्हें वे ऋग्वेद की शाखायें कहते हैं।

पुरुष सूक्त इन सबमें था या नहीं, यह आज पूर्ण रूप से निश्चित नहीं कहा जा सकता लेकिन इतना तो स्पष्ट है कि पुरुष नाम का देवता न निघण्टु में है न निरुक्त में, न वृहददेवता में जो ऋग्वेद के देवताओं की विशद रूप में चर्चा करता है।